धर्म और समाज

धर्म और संस्कृति

धर्मका सच्चा अर्थ है आध्यात्मिक उत्कर्ष, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखताको छोड़कर—वासनाओंके पाशसे हटकर—शुद्ध चिद्रूप या आत्म-स्वरूपकी ओर अग्रसर होता है। यही है यथार्थ धर्म। अगर ऐसा धर्म सचमुच जीवनमें प्रकट हो रहा हो, तो उसके बाह्य साधन भी—चाहे वे एक या दूसरे रूपमें अनेक प्रकारके क्यों न हों—धर्म कहे जा सकते हैं। पर यदि वासनाओंके पाशसे मुक्ति न हो या मुक्तिका प्रयत्न भी न हो, तो बाह्य साधन कैसे भी क्यों न हों, वे धर्म-कोटिमें कभी आ नहीं सकते। बल्कि वे सभी साधन अधर्म ही बन जाते हैं। सारांश यह कि धर्मका मुख्य मतलब सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-जैसे आध्यात्मिक सद्गुणोंसे है। सच्चे अर्थमें धर्म कोई बाह्य वस्तु नहीं है। तो भी वह बाह्य जीवन और व्यवहारके द्वारा ही प्रकट होता है। धर्मको यदि आत्मा कहें, तो बाह्य जीवन और सामाजिक सब व्यवहारोंको देह कहना चाहिए।

धर्म और संस्कृतिमें वास्तविक रूपमें कोई अन्तर होना नहीं चाहिए। जो व्यक्ति या जो समाज संस्कृत माना जाता हो, वह यदि धर्म-पराङ्मुख है, तो फिर जंगलीपनसे संस्कृतिमें विशेषता क्या? इस तरह वास्तवमें मानव-संस्कृतिका अर्थ तो धार्मिक या न्याय-सम्पन्न जीवन-व्यवहार ही है। परन्तु सामान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत्‌में संस्कृतिका यह अर्थ नहीं लिया जाता। लोग संस्कृतिसे मानवकृत विविध कलाएँ, विविध आविष्कार और विविध विद्याएँ ग्रहण करते हैं। पर ये कलाएँ, ये आविष्कार, ये विद्याएँ हमेशा मानव-कल्याणकी दृष्टि या वृत्तिसे ही प्रकट होती हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। हम इतिहाससे जानते हैं कि अनेक कलाओं, अनेक आविष्कारों और अनेक विद्याओंके पीछे हमेशा मानव-कल्याणका कोई शुद्ध उद्देश्य नहीं होता है। फिर भी ये चीजें समाजमें आती हैं और समाज भी इनका स्वागत पूरे हृदयसे करता है। इस तरह हम देखते हैं और व्यवहारमें पाते हैं कि जो वस्तु मानवीय बुद्धि और एकाग्र प्रयत्नके द्वारा निर्मित होती है और मानव-समाजको पुराने स्तरसे नये स्तरपर लाती है, वह संस्कृतिकी कोटिमें आती है। इसके साथ शुद्ध धर्मका कोई अनिवार्य सम्बन्ध हो, ऐसा नियम नहीं है। यही कारण है कि संस्कृत कही और मानी जानेवाली जातियाँ भी अनेकधा धर्म-पराङ्‌मुख पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए बुद्धका मूर्तिनिर्माण, मन्दिरोंको तोड़कर मस्जिद बनाना और मस्जिदोंको तोड़कर मन्दिर-निर्माण, छीना-झपटी आदि सब धर्म अथवा धर्मोद्धारके नामपर होता है। ये संस्कृत जातियोंके लक्षण तो कदापि नहीं हैं।

सामान्य समझके लोग धर्म और संस्कृतिमें अभेद कर डालते हैं। कोई संस्कृतिकी चीज़ सामने आई, जिसपर कि लोग मुग्ध हों, तो बहुधा उसे धर्म कहकर बखाना जाता है और बहुतसे भोले-भाले लोग ऐसी सांस्कृतिक वस्तुओंको ही धर्म मानकर उनसे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनका ध्यान सामाजिक न्यायोचित व्यवहारकी ओर जाता ही नहीं। फिर भी वे संस्कृतिके नामपर नाचते रहते हैं। इस तरह यदि हम औरोंका विचार छोड़कर केवल अपने भारतीय समाजका ही विचार करें, तो कहा जा सकता है कि हमने संस्कृतिके नामपर अपना वास्तविक सामर्थ्य बहुत-कुछ गँवाया है। जो समाज हज़ारों वर्षोंसे अपनेको संस्कृत मानता आया है और अपनेको अन्य समाजोंसे संस्कृततर समझता है, वह समाज यदि नैतिक बलमें, चरित्र-बलमें, शारीरिक बलमें और सहयोगकी भावनामें पिछड़ा हुआ हो, खुद आपस-आपसमें छिन्न-भिन्न हो, तो वह समाज वास्तवमें संस्कृत है या असंस्कृत, यह विचार करना आवश्यक है। संस्कृति भी उच्चतर हो और निर्बलताकी भी पराकाष्ठा हो, यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर विरोधी बात है। इस दृष्टिसे भारतीय समाज संस्कृत है, एकान्ततः ऐसा मानना बड़ी भारी गलती होगी।

जैसे सच्चे मानोंमें हम आज संस्कृत नहीं हैं, वैसे ही सच्चे मानोंमें हम धार्मिक भी नहीं हैं। कोई भी पूछ सकता है कि तब क्या इतिहासकार और विद्वान् जब भारतको संस्कृति तथा धर्मका धाम कहते हैं, तब क्या वे झूठ कहते हैं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें है। अगर हम इतिहासकारों और विद्वानोंके कथनका यह अर्थ समझें कि सारा भारतीय समाज या सभी भारतीय जातियाँ और परम्पराएँ संस्कृत एवं धार्मिक ही हैं, तो उनका कथन अवश्य सत्यसे पराङ्मुख होगा। यदि हम उनके कथनका अर्थ इतना ही समझें कि हमारे देशमें खास-खास ऋषि या साधक संस्कृत एवं धार्मिक हुए हैं तथा वर्तमानमें भी हैं, तो उनका कथन असत्य नहीं।

उपर्युक्त चर्चासे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि हमारे निकटके या दूरवर्ती पूर्वजोंके संस्कृत एवं धार्मिक जीवनसे हम अपनेको संस्कृत एवं धार्मिक मान लेते हैं और वस्तुतः वैसे हैं नहीं, तो यह सचमुच ही अपनेको और दूसरोंको धोखा देना है। मैं अपने अल्प-स्वल्प इतिहासके अध्ययन और वर्तमान स्थितिके निरीक्षण द्वारा इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि अपनेको आर्य कहनेवाला भारतीय समाज वास्तवमें संस्कृति एवं धर्मसे कोसों दूर है।

जिस देशमें करोड़ों ब्राह्मण हों, जिनका एकमात्र जीवन-व्रत पढ़ना-पढ़ाना या शिक्षा देना कहा जाता है, उस देशमें इतनी निरक्षरता कैसे? जिस देशमें लाखोंकी संख्यामें भिक्षु, संन्यासी, साधु और श्रमण हों, जिनका कि एकमात्र उद्देश्य अकिंचन रहकर सब प्रकारकी मानव-सेवा करना कहा जाता है, उस देशमें समाजकी इतनी निराधारता कैसे?

हमने १९४३ के बंगाल-दुर्भिक्षके समय देखा कि जहाँ एक ओर सड़कोंपर अस्थि-कंकाल बिछे पड़े थे, वहाँ दूसरी ओर अनेक स्थानोंमें यज्ञ एवं प्रतिष्ठाके उत्सव देखे जाते थे, जिनमें लाखोंका व्यय घृत, हवि और दान-दक्षिणामें होता था—मानो अब मानव-समाज खान-पान, वस्त्र-निवास आदिसे पूर्ण सुखी हो और बची हुई जीवन-सामग्री इस लोकमें जरूरी न होनेसे ही परलोकके लिए खर्च की जाती हो!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिछले एक वर्षसे तो हम अपनी संस्कृति और धर्मका और भी सच्चा रूप देख रहे हैं। लाखों शरणार्थियोंको निःस्सीम कष्ट होते हुए भी हमारी संग्रह तथा परिग्रह-वृत्ति तनिक भी कम नहीं हुई है। ऐसा कोई विरला ही व्यापारी मिलेगा, जो धर्मका ढोंग किये बिना चोर-बाज़ार न करता हो और जो घूसको एकमात्र संस्कृति एवं धर्मके रूपमें अपनाए हुए न हो। जहाँ लगभग समूची जनता दिलसे सामाजिक नियमों और सरकारी कानूनका पालन न करती हो, वहाँ अगर संस्कृति एवं धर्म माना जाय, तो फिर कहना होगा कि ऐसी संस्कृति और ऐसा धर्म तो चोर-डाकुओंमें भी संभव है।

हम हज़ारों वर्षोंसे देखते आ रहे हैं और इस समय तो हमने बहुत बड़े पैमानेपर देखा है कि हमारे जानते हुए ही हमारी माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ अपहृत हुईं। यह भी हम जानते हैं कि हम पुरुषोंके अबलत्वके कारण ही हमारी स्त्रियाँ विशेष अबला एवं अनाथ बनकर अपहृत हुईं, जिनका रक्षण एवं स्वामित्व करनेका हमारा स्मृतिसिद्ध कर्त्तव्य माना जाना जाता है। फिर भी हम इतने अधिक संस्कृत, इतने अधिक धार्मिक और इतने अधिक उन्नत हैं कि हमारी अपनी निर्बलताके कारण अपहृत हुई स्त्रियाँ यदि फिर हमारे समाजमें आना चाहें, तो हममेंसे बहुतसे उच्चताभिमानी पंडित, ब्राह्मण और उन्हींकी-सी मनोवृत्तिवाले कह देते हैं कि अब उनका स्थान हमारे यहाँ कैसे? अगर कोई साहसिक व्यक्ति अपहृत स्त्रीको अपना लेता है, तो उस स्त्रीकी दुर्दशा या अवगणना करनेमें हमारी बहनें ही अधिक रस लेती हैं।

इस प्रकार हम जिस किसी जीवन-क्षेत्रको लेकर विचार करते हैं, तो यही मालूम होता है कि हम भारतीय जितने प्रमाणमें संस्कृति तथा धर्मकी बातें करते हैं, हमारा समूचा जीवन उतने ही प्रमाणमें संस्कृति एवं धर्मसे दूर है। हाँ, इतना अवश्य है कि संस्कृतिके बाह्य रूप और धर्मकी बाहरी स्थूल लीकें हममें इतनी अधिक हैं कि शायद ही कोई दूसरा देश हमारे मुकाबलेमें खड़ा रह सके। केवल अपने विरल पुरुषोंके नामपर जीना और बड़ाईकी डींगें हाँकना तो असंस्कृति और धर्म-पराङ्मुखताका ही लक्षण है।

[नया समाज, जुलाई १९४८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org